जैन धर्म में स्वाध्याय का अर्थ एवं स्थान

जैन साधना का लक्ष्य समभाव (सामायिक) की उपलब्धि है और समभाव की उपलब्धि हेतु स्वाध्याय और सत्साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। सत्साहित्य का स्वाध्याय मनुष्य का एक ऐसा मित्र है, जो अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों स्थितियों में उसका साथ निभाता है और उसका मार्ग-दर्शन कर उसके मानसिक विक्षोभों एवं तनावों को समाप्त करता है। ऐसे साहित्य के स्वाध्याय से व्यक्ति को सदैव ही आत्मतोष और आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति होती है, मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है। यह मानसिक शान्ति का अमोघ उपाय है।

स्वाध्याय का महत्त्व

सत्साहित्य स्वाध्याय का महत्त्व अति प्राचीन काल से ही स्वीकृत रहा है। औपनिषदिक चिन्तन में जब शिष्य अपनी शिक्षा पूर्ण करके गुरु के आश्रम से बिदाई लेता था, तो उसे दी जाने वाली अन्तिम शिक्षाओं में एक शिक्षा होती थी---स्वाध्यायान् मा प्रमदः अर्थात् स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। स्वाध्याय एक ऐसी वस्तु है जो गुरु की अनुपस्थिति में भी गुरु का कार्य करती थी। स्वाध्याय से हम कोई-न-कोई मार्ग-दर्शन प्राप्त कर ही लेते हैं। महात्मा गांधी कहा करते थे कि "जब भी मैं किसी कठिनाई में होता हूँ, मेरे समाने कोई जटिल समस्या होंती है, जिसका निदान मुझे स्पष्ट रुप से प्रतीत नहीं होता है। मैं गीता-माता की गोद में चला जाता हूँ, वहाँ मुझे कोई-न-कोई समाधान अवश्य मिल जाता है।" यह सत्य है कि व्यक्ति कितने ही तनाव में क्यों न हो, अगर वह ईमानदारी से सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है तो उसे उनमें अपनी पीड़ा से मुक्ति का मार्ग अवश्य ही दिखाई देता है।

जैन परम्परा में जिसे मुक्ति कहा गया है, वह वस्तुतः राग-द्वेष से मुक्ति है, मानसिक तनावों से मुक्ति है और ऐसी मुक्ति के लिए पूर्व कर्म संस्कारों का निर्जरण या क्षय आवश्यक माना गया है। निर्जरा का अर्थ है— मानसिक ग्रन्थियों को जर्जरित करना अर्थात् मन की राग-द्वेष, अहंकार आदि की गांठों को खोलना। इसे ग्रन्थि-भेद करना भी कहते हैं। निर्जरा एक साधना है। वस्तुतः वह तप की ही साधना है। जैन परम्परा में तप साधना के जो १२ भेद माने गए है, उनमें स्वाध्याय की गणना आन्तरिक तप के अन्तर्गत होती है । इस प्रकार स्वाध्याय मुक्ति का मार्ग है, जैन साधना का एक आवश्यक अंग है।

उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय को आन्तरिक तप का एक प्रकार बताते हुए उसके पाँचों अंगों एवं उनकी उपलब्धियों की विस्तार से चर्चा की गई है। बृहत्कल्पभाष्य में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि "नवि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तवोकम्मं" अर्थात् स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में कोई था, न वर्तमान में कोई है और न भविष्य में कोई होगा। इस प्रकार जैन परम्परा में स्वाध्याय को आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में विशेष महत्त्व दिया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, जिससे समस्त दुःखों का क्षय हो जाता है। वस्तुतः स्वाध्याय ज्ञान प्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। कहा भी है[१]—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगन्तसोक्खं समुवेई मोक्खं ।।
तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा, वज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झाय-एगन्तनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ।।

अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से, राग-द्वेष के पूर्ण क्षय से जीव एकान्त सुख-रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। गुरुजनों की और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना स्वाध्याय करना और धैर्य रखना—यही दुःखों से मुक्ति का उपाय है।

स्वाध्याय का अर्थ

स्वाध्याय शब्द का सामान्य अर्थ है—स्व का अध्ययन। वाचस्पत्यम् में स्वाध्याय शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है— १. स्व अधि ईण्, जिसका तात्पर्य है स्व का अध्ययन करना। दूसरे शब्दों में स्वाध्याय आत्मानुभूति है, अपने अन्दर झांक कर अपने आप को देखना है। वह स्वयं अपना अध्ययन है। मेरी दृष्टि में अपने विचारों, वासनाओं व अनुभूतियों को जानने व समझने का प्रयत्न ही स्वाध्याय है। वस्तुतः वह अपनी आत्मा का अध्ययन ही है, आत्मा के दर्पण में अपने को देखना है। जब तक स्व का अध्ययन नहीं होगा, व्यक्ति अपनी वासनाओं एवं विकारों का द्रष्टा नहीं बनेगा तब तक वह उन्हें दूर करने का प्रयत्न भी नहीं करेगा और जब तक वे दूर नहीं होंगे, तब तक आध्यात्मिक पवित्रता या आत्म-विशुद्धि सम्भव नहीं होगी और आत्म-विशुद्धि के बिना मुक्ति असम्भव है। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि जो गृहिणी अपने घर की गन्दगी को देख पाती है, वह उसे दूर कर घर को स्वच्छ भी रख सकती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी मनोदैहिक विकृतियों को जान लेता है और उनके कारणों का निदान कर लेता है, वही सुयोग्य वैद्य के परामर्श से उनकी योग्य चिकित्सा करके अन्त में स्वास्थ्य लाभ करता है। यही बात हमारी आध्यात्मिक विकृतियों को दूर करने की प्रक्रिया में भी लागू होती है। जो व्यक्ति स्वयं अपने अन्दर झाँककर अपनी चैत्तसिक विकृतियों अर्थात् कषायों को जान लेता है, वही योग्य गुरु के सानिध्य में उनका निराकरण करके आध्यात्मिक विशुद्धता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार स्वाध्याय अर्थात् स्व का अध्ययन आत्म-विशुद्धि की एक अनुपम साधना सिद्ध होती है। हमें स्मरण रखना होगा स्वाध्याय का मूल अर्थ जो, स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में झांकने की प्रक्रिया है। स्वयं को जानने और पहचानने की वृत्ति के अभाव से सूत्रों या ग्रन्थों के अध्ययन का कोई भी लाभ नहीं होता। अन्तर्चक्षु के उन्मीलन के बिना ज्ञान का प्रकाश सार्थक नहीं बन पाता है। कहा भी है[२]—

सुबहुंपि सुयमहीयं, किं काही? चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्स कोडिवि ।।
अप्पंपि सुयमहीयं, पयासयं होई चरणजुत्तस्स।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्स पयासेई ।।

अर्थात् जैसे अंधे व्यक्ति के लिए करोड़ों दीपकों का प्रकाश भी व्यर्थ है, किन्तु आँख वाले व्यक्ति के लिए एक भी दीपक का प्रकाश सार्थक होता है, उसी प्रकार जिसके अन्तर्चक्षु खुल गये हैं, जिसकी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो चुकी है, ऐसे आध्यात्मिक साधक के लिए स्वल्प अध्ययन भी लाभप्रद होता है, अन्यथा आत्म-विस्मृत व्यक्ति के लिए करोड़ों पदों का ज्ञान भी निरर्थक है। स्वाध्याय में अन्तर्चक्षु का खुलना, आत्मद्रष्टा बनना, स्वयं में झांकना, पहली शर्त है तथा शास्त्र का पढ़ना या अध्ययन करना उसका दूसरी शर्त है।

स्वाध्याय शब्द की दूसरी व्याख्या सु+आ+अधि+ईङ्— इस रूप में भी की गई है। इस दृष्टि से स्वाध्याय की परिभाषा होती है— शोभनोऽध्याय: स्वाध्याय: अर्थात् सत्साहित्य का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय की इन दोनों परिभाषाओं के आधार पर एक बात जो उभर कर सामने आती है वह यह कि सभी प्रकार का पठन-पाठन स्वाध्याय नहीं है। आत्म-विशुद्धि के लिए किया गया अपनी स्वकीय वृत्तियों, भावनाओं व वासनाओं अथवा विचारों का अध्ययन या निरीक्षण तथा ऐसे सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन, जो हमारी चैत्तसिक विकृतियों के समझने और उन्हें दूर करने में सहायक हों, ही स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। विषय-वासनावर्द्धक, भोगाकांक्षाओं को उदीप्त करने वाले, चित्त को विचलित करने वाले तथा आध्यात्मिक शान्ति और समता को भंग करने वाले साहित्य का अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता है। उन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन ही स्वाध्याय की कोटि में आता है जिससे चित्तवृत्तियों की चंचलता कम होती हो, मन प्रशान्त होता हो और जीवन में सन्तोष की वृत्ति विकसित होती हो।

स्वाध्याय का स्वरूप

स्वाध्याय के अन्तर्गत कौन सी प्रवृत्तियाँ आती हैं, इसका विश्लेषण जैन परम्परा में विस्तार से किया गया है। स्वाध्याय के पाँच अंग माने गये हैं[३]— १. वाचना २. प्रतिपृच्छना ३. परावर्तन ४. अनुप्रेक्षा और ५. धर्मकथा।

१. गुरु के सानिद्य में सद्ग्रन्थों का अध्ययन करना वाचना है। वर्तमान सन्दर्भ में हम किसी सद्ग्रन्थों के पठन-पाठन एवं अध्ययन को वाचना के अर्थ में गृहित कर सकते हैं।

२. प्रतिपृच्छना का अर्थ है पठित या पढ़े जाने वाले ग्रन्थ के अर्थबोध में सन्देह आदि की निवृत्ति हेतु जिज्ञासावृत्ति से, या विषय के स्पष्टीकरण के निमित्त प्रश्न-उत्तर करना।

३. पूर्व पठित ग्रन्थ की पुनरावृत्ति या पारायण करना, यह परावर्तना है।

४.पूर्व पठित विषय के सन्दर्भ में चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है।

५. इसी प्रकार अध्ययन के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे दूसरों को प्रदान करना या धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि स्वाध्याय के क्षेत्र में इन पाँच अवस्थाओं का एक क्रम है। इनमें प्रथम स्थान वाचना का है। अध्ययन किए गए विषय के स्पष्ट बोध के लिए प्रश्नोत्तर के माध्यम से शंका का निवारण करना, इसका क्रम दूसरा है, क्योंकि जब तक अध्ययन नहीं होगा तब तक शंका आदि भी नहीं होगें। अध्ययन किए गए विषय के स्थिरीकरण के लिए उसका पारायण आवश्यक है। इससे एक ओर स्मृति सुदृढ़ होती है तो दूसरी ओर क्रमश: अर्थ-बोध में स्पष्टता का विकास होता है। इसके पश्चात् अनुप्रेक्षा या चिन्तन का क्रम आता है। चिन्तन के माध्यम से व्यक्ति पठित विषय को न केवल स्थिर करता है, अपितु वह उसके अर्थबोध की गहराई में जाकर स्वत: की अनुभूति के स्तर पर उसे समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार चिन्तन एवं मनन के द्वारा जब विषय स्पष्ट हो जाय, तो व्यक्ति को धर्मोपदेश देने या अध्ययन कराने का अधिकार मिलता है।

स्वाध्याय के लाभ

उत्तराध्ययनसूत्र में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणकर्म का क्षय होता है। दूसरे शब्दों में आत्मा मिथ्याज्ञान का आवरण दूर करके सम्यग्ज्ञान का अर्जन करता है। स्वाध्याय के इस सामान्य लाभ की चर्चा के साथ उत्तराध्ययनसूत्र में स्वाध्याय के पाँचों अंगों—वाचना, प्रतिपृच्छना, धर्मकथा आदि के अपने-अपने क्या लाभ होते हैं इसकी भी चर्चा की गयी है, जो निम्न रूप में पायी जाती है—

भन्ते! वाचना (अध्ययन) से जीव को क्या प्राप्त होता है?

वाचना से जीव कर्मों की निर्जरा करता है, श्रुतज्ञान की आशातना के दोष से दूर रहने वाला वह तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है तथा गणधरों के समान जिज्ञासु शिष्यों को श्रुत प्रदान करता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन लेकर कर्मों की महानिर्जरा करता है और महापर्यवसान (संसार का अन्त) करता है।

भन्ते! प्रतिपृच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है?

प्रतिपृच्छना (पूर्वपठित शास्त्र के सम्बन्ध में शंका निवृत्ति के लिए प्रश्न करना) से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय अर्थात् दोनों से सम्बन्धित कांक्षामोहनीय (संशय) का निराकरण करता है।

भन्ते! परावर्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है?

परावर्तना से अर्थात् पठित पाठ के पुनरावर्तन से व्यंजन (शब्द-पाठ) स्थिर होता है और जीव पदानुसारिता आदि व्यंजना-लब्धि को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होता है।

भन्ते! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है?

अनुप्रेक्षा अर्थात् सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन से जीव आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणादि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ़ बन्धन को शिथिल करता है। उनकी दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करता है। उनके तीव्र रसानुभाव को मन्द करता है। बहुकर्म-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में परिवर्तित करता है। आयुष्यकर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता है। असातावेदनीयकर्म का पुनः-पुनः उपचय नहीं करता है। जो संसार अटवी अनादि एवं अनन्त है, दीर्घमार्ग से युक्त है, जिसके नरकादि गतिरूप चार अन्त (अवयव) है, उसे शीघ्र ही पार करता है।

भन्ते! धर्मकथा (धर्मोपदेश) से जीव को क्या प्राप्त होता है?

धर्मकथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है और प्रवचन (शासन एवं सिद्धान्त) की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में शुभ फल देने वाले पुण्य कर्मों का बन्ध करता है।[३]

इसी प्रकार स्थानांगसूत्र[४] में भी शास्त्राध्ययन से क्या लाभ हैं? इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें कहा गया है कि सूत्र की वाचना से पाँच लाभ हैं—१. वाचना से श्रुत का संग्रह होता है अर्थात् यदि अध्ययन का क्रम बना रहे तो ज्ञान की वह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। २. शास्त्राध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति से शिष्य का हित होता है, क्योंकि वह उसके ज्ञान की प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है। ३. शास्त्राध्ययन अर्थात् अध्यापन की प्रवृत्ति बनी रहने से ज्ञानावरण कर्म की निर्जरा होती है अर्थात् अज्ञान का नाश होता है। ४. अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति के जीवित रहने से उसके विस्मृत होने की सम्भावना नहीं रहती है। ५. जब श्रुत स्थिर रहता है तो उसकी अविच्छिन्न परम्परा चलती रहती है।

स्वाध्याय का प्रयोजन

स्थानांगसूत्र[५] में स्वाध्याय क्यों करना चाहिए इसकी चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें यह बताया गया है कि स्वाध्याय के निम्न पाँच प्रयोजन होने चाहिए—

१. ज्ञान की प्राप्ति के लिये २. सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये ३. सदाचरण में प्रवृत्ति हेतु ४. दुराग्रहों और अज्ञान का विमोचन करने के लिये ५. यथार्थ का बोध करने के लिए या अवस्थित भावों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए।.

आचार्य अकलंक ने स्वाध्याय के निम्न पाँच प्रयोजनों[६] की भी चर्चा की है—

१. बुद्धि की निर्मलता, २. प्रशस्त मनोभावों की प्राप्ति, ३. जिनशासन की रक्षा, ४. संशय की निवृत्ति, ५. परवादियों की शंका का निरसन, ६. तप-त्याग की वृद्धि और अतिचारों (दोषों) की शुद्धि।

स्वाध्याय का साधक जीवन में स्थान

स्वाध्याय का जैन परम्परा में कितना महत्त्व रहा है, इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर उत्तराध्ययनसूत्र[७] के माध्यम से ही अपनी बात को स्पष्ट करूँगा। उसमें मुनि की जीवन-चर्या की चर्चा करते हुए कहा गया है—

दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि ।।
पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खाचरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं ।।
रत्तिं पि चउरो भागे भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राइभाएसु चउसु वि ।।
पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २६/११,१२,१७,१८

मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे में भिक्षा-चर्या एवं दैहिक आवश्यकता की निवृत्ति का कार्य करे। पुनः चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा व चौथे में पुनः स्वाध्याय का निर्देश है। इस प्रकार मुनि प्रतिदिन चार प्रहर अर्थात् १२ घंटे स्वाध्याय में रत रहे। दूसरे शब्दों में साधक जीवन का आधा भाग स्वाध्याय के लिये नियत था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा में स्वाध्याय का महत्त्व प्राचीन काल से ही सुस्थापित रहा है, क्योंकि यही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा व्यक्ति के अज्ञान का निवारण तथा आध्यात्मिक विशुद्धि सम्भव थी।

सत्साहित्य के अध्ययन की दिशायें

सत्साहित्य के पठन के रूप में स्वाध्याय की क्या उपयोगिता है? यह सुस्पष्ट है। वस्तुतः सत्साहित्य का अध्ययन व्यक्ति की जीवन दृष्टि को ही बदल देता है। ऐसे अनेक लोग हैं जिनकी सत्साहित्य के अध्ययन से जीवन की दिशा ही बदल गयी। स्वाध्याय एक ऐसा माध्यम है, जो एकान्त के क्षणों में हमें अकेलापन महसूस नहीं होने देता और एक सच्चे मित्र की भाँति सदैव साथ देता है तथा मार्ग-दर्शन करता है।

वर्तमान युग में यद्यपि लोगों में पढ़ने-पढ़ाने की रूचि विकसित हुई है, किन्तु हमारे पठन की विषय वस्तु सम्यक् नहीं है। आज के व्यक्ति के पठन-पाठन का मुख्य विषय पत्र-पत्रिकाएँ हैं। इनमें मुख्य रूप से वे ही पत्रिकाएं अधिक पसन्द की जा रही हैं जो वासनाओं को उभारने वाली तथा जीवन के विद्रूपित पक्ष को यथार्थ के नाम पर प्रकट करने वाली हैं। आज समाज में नैतिक मूल्यों का जो पतन है उसका कारण हमारे प्रसार माध्यम भी हैं। इन माध्यमों में पत्र-पत्रिकाएँ तथा आकाशवाणी एवं दूरदर्शन प्रमुख हैं। आज स्थिति ऐसी है कि ये सभी अपहरण, बलात्कार, गबन, डकैती, चोरी, हत्या—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सबकी सूचनाओं से भरे पड़े होते हैं और हम उनको पढ़ने तथा देखने में अधिक रस लेते हैं। इनके दर्शन और प्रदर्शन से हमारी जीवनदृष्टि ही विकृत हो चुकी है, आज सच्चरित्र व्यक्तियों एवं उनके जीवन वृत्तान्तों की सामान्य रूप से, इन माध्यमों के द्वारा उपेक्षा की जाती है। अत: नैतिक मूल्यों और सदाचार से हमारी आस्था उठती जा रही है।

इन विकृत परिस्थितियों में यदि मनुष्य के चरित्र को उठाना है और उसे सन्मार्ग एवं नैतिकता की ओर प्रेरित करना है तो हमें अपने अध्ययन की दृष्टि को बदलना होगा। आज साहित्य के नाम पर जो भी है वह पठनीय है, ऐसा नहीं है। आज यह आवश्यक है कि सत्-साहित्य का प्रसारण हो और लोगों में उसके अध्ययन की अभिरुचि जागृत हो। यही सच्चे अर्थ में स्वाध्याय है।

१. उत्तराध्ययनसूत्र- संपा०- रतनलाल दोशी, प्रका०- श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, ३२/२-३।
२. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्रीय वृत्ति), संपा०- बी० के० कोठारी, प्रका० रिलीजियस ट्रस्ट, बम्बई, १९८१, ८८-८९।
३. उत्तराध्ययनसूत्र, २९/२०-२४।
४. स्थानांगसूत्र, संपा०- मधुकर मुनि, प्रका०— श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, ५/३/२२३।
५. वही- ५/३/२२४।
६. तत्त्वार्थराजवार्तिक, संपा०- डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७, ९/२५।
७. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०-रतनलाल दोशी, प्रका०- श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय, सैलाना, वीर सं० २४७८, २६/११,१२,१७,१८।

जैन धर्म में भक्ति की अवधारणा

जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा का विवेचन करने के पूर्व यह विचार करना आवश्यक है कि 'भक्ति' शब्द का तात्पर्य या अर्थ क्या है और वह जैनधर्म में किस अर्थ में स्वीकृत है। भक्ति शब्द 'भज्' धातु में क्तिन् प्रत्यय लगकर बना है। 'भज्' धातु का अर्थ है—सेवा करना। किन्तु यथार्थ में भक्ति शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक है। सामान्यतया आराध्य या उसके विग्रह की गुणसंकीर्तन, स्तुति, वन्दना, प्रार्थना, पूजा और अर्चा के रूप में जो सेवा की जाती है, उसे हम भक्ति नाम देते हैं। यद्यपि यह स्मरण रखना है कि सब क्रियायें भी तब तक भक्ति नहीं कही जा सकती हैं, जब तक इनके मूल में आराध्य के प्रति पूज्यबुद्धि, श्रद्धा, अनुराग और समर्पण का भाव नहीं हो। जैनाचार्य पूज्यपाद देवनन्दी ने भक्ति की व्याख्या निम्न रूप में की है[१]—

अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।

अर्थात् अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत एवं आगम के प्रति भावविशुद्धि पूर्वक जो अनुराग है, वह भक्ति है। प्रो० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रेमपूर्ण श्रद्धा को भक्ति कहा है। कुछ विद्वानों ने इसे आराध्य और आराधक के मध्य एक रागात्मक सम्बन्ध माना है। किन्तु मेरी दृष्टि में भक्ति शब्द का तात्पर्य इन सबसे अधिक है।

यह सत्य है कि भक्ति का उदय उपास्य और उपासक या भक्त और भगवान् के बीच एक दूरी या द्वैत में ही होता है, किन्तु इसकी चरम निष्पत्ति इस द्वैत को समाप्त करने में ही है। जैसे-जैसे भक्त और भगवान् या आराध्य और आराधक के मध्य की यह दूरी सिमटती जाती है और एक ऐसा समय आता है जब व्यक्ति उस द्वैत को समाप्त कर स्वयं में भगवत्ता की अनुभूति कर लेता है। यही भक्ति का परिपाक है, यहाँ ही वह पूर्णता को प्राप्त होती है। जैन धर्म की विशेषता यही है कि उसमें भक्ति का प्रयोजन इस द्वैत या दूरी को समाप्त करना ही माना गया है।

जैनों के अनुसार यह द्वैत तब ही समाप्त होता है, जब भक्त स्वयं भगवान् बन जाता है। यद्यपि हमें स्मरण रखना होगा कि अनीश्वरवादी एवं प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले जैन दर्शन में इस द्वैत के समाप्त होने का अर्थ अद्वैत वेदान्त की तरह भक्त की वैयक्तिक सत्ता का ब्रह्म में विलय नहीं है। साथ ही जैनदर्शन द्वैतवादियों या विशिष्टाद्वैतवादियों की तरह यह भी नहीं मानता है कि भक्ति की चरम निष्पत्ति में भी भक्त और भगवान् का द्वैत बना रहता है, चाहे वह सारूप्य मुक्ति को ही क्यो न प्राप्त कर लें।

जैनदर्शन के अनुसार भक्ति की चरम निष्पत्ति आत्मा द्वारा अपने ही निरावरण शुद्ध स्वरूप या परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना है अर्थात् स्वयं परमात्मा बन जाना है। यह स्वयं के द्वारा स्वयं को पाना है।

भक्ति और प्रेम

सामान्यतया भक्ति में अनुराग या प्रेम को एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। परमात्मा के प्रति निश्छल प्रेम भक्ति का आधार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org